मुझे इसकी कभी कोई ज़रूरत-सी न महसूस हुई—शायद ऐसा वहम मुझे था, जो वहम ही था कि मेरी निजी एकांत की दुनिया में मेरे साथ चलने वाला कोई नहीं है—और क्यों हो? खैर...

ये '36-'37, '37-'38 के साल थे।

...जी हाँ। तो, बच्चन ने मुझसे कहा, "तुम यहाँ रहोगे तो मर जाओगे। चलो इलाहाबाद और एम.ए. करो..." इत्यादि। और हमारी दुकान पर बैठने वाले देहरादून के प्रसिद्ध डाक्टर मुझसे कह रहे थे, "तुम इलाहाबाद जाएगा तो मर जाएगा!" मगर मैं तो देख चुका था कि फेफड़े के मरीज़ों के लिए, ग़रीब-ग़ुरबा के लिए, वह क्या नुस्खा लिखते थे: 'कैल्सियम लैक्टेट, थ्री टाइम्स अ-डी'। कैल्सियम लैक्टेट उन दिनों दो आने में एक आउंस आता था। मैं अपने दिल में बेफ़िक्र था।

इलाहाबाद आया, तो बच्चन ने क्या किया? बच्चन के पिता मेरे लोकल गार्जियन के खाने में दर्ज हुए। उन्होंने उर्दू-फ़ारसी की सूफ़ी नज़्मों का एक संग्रह बड़े स्नेह से मुझे दिया था। वह आशीर्वाद अर्से तक मेरे साथ रहा और एक अर्थ में अब भी है। और बच्चन ने एम.ए. प्रीवियस और फ़ाइनल के दोनों सालों का ज़िम्मा लिया और कहा, "देखो जब भी तुम इस काबिल हो जाओ, (यानी तुम्हारी नौकरी लग जाए), तब वापस कर देना। चिंता मत करो।" न इस काबिल हुआ, और न मैंने चिंता की।

बच्चन का प्लान यह था कि मैं किसी तरह एक काम का आदमी बन जाऊँ। उनके स्वयं अंग्रेज़ी में फाइनल कर लेने—दस साल की मास्टरी के बाद—और बी.टी. कर लेने के साथ-साथ मैं भी यूनिवर्सिटी से डिग्री लेकर फ़ारिग हो जाऊँ! ताकि कहीं पैर जमाकर खड़ा हो सकूँ। सो कहाँ होना था! कहीं न कहीं यह बात, पिता जी की सरकारी नौकरी को देखकर, मेरे दिल मे बैठ गई थी कि नौकरी नहीं करनी है। मैंने कभी कोई तर्क-वितर्क अपने-आपसे नहीं किया। मेरा खयाल है और अब मैं साफ़-साफ़ देखता हूँ और कह सकता हूँ कि यह बस, घोंचपने की हद थी। (और, पलायन?)

हिंदू बोर्डिंग हाउस के कॉमन रूम में एक सीट मुझे फ्री मिल गई थी और पंत जी की सहज कृपा से (मैं कभी नहीं भूलूँगा) इंडियन प्रेस से अनुवाद का काम।